शिक्षा की भारतीय अवधारणा

❑ राजाराम भादू

प्राचीन भारतीय साहित्य में शिक्षा के संदर्भ के लिए सामान्यत: जो शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं, उनमें 'ज्ञान', 'विद्या' और 'शिक्षा' प्रमुख हैं । अरबी-फारसी में शायद 'इल्म', 'तालीम' और 'हुनर' शब्दों का प्रयोग किया गया है । इन शब्दों के अभिप्राय, संदर्भ और निहितार्थों में सूचना और कौशल, सत्य और न्याय, विज्ञान और नैतिकता, धर्म और चरित्र जैसी अवधारणाएं समाहित हैं । कुल मिलाकर कला और संस्कृति का एक व्यापक फलक इस तरह शिक्षा की परिधि में आ जाता है ।

शिक्षा की आधुनिक अवधारणा इस तुलना में अपेक्षाकृत सीमित और कई मामलों में तो संकीर्ण प्रतीत होती है ।

प्राचीन काल में शिक्षा का प्रसार अत्यंत सीमित रहा, यह सर्वविदित तथ्य है । शिक्षा की प्राचीन भारतीय अवधारणा आश्चर्यजनक रूप से समाज के बीच आज भी प्रचलित है । यह भी उल्लेखनीय है कि समाज शिक्षा के 'आधुनिक रूप' को संकीर्ण मानता है और संशय की दृष्टि से देखता है । यहां समाज से हमारा अभिप्राय व्यापक जन-समाज से है जिसमें बहुसंख्यक निरक्षर या कम पढ़े-लिखे तबके भी शामिल हैं। जबकि आधुनिक शिक्षित वर्ग शिक्षा के आधुनिक अर्थ को वरीयता देता है और प्राचीन अवधारणा को व्यावहारिक नहीं पाता । यह अलग बात है कि यही शिक्षित वर्ग आधुनिक शिक्षा के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष में द्वैत देखता है और आधे-अधूरे रूप में ही शिक्षा को आत्मसात करता है । जबकि जन-साधारण 'शिक्षितों के इस द्वैत में' शिक्षा की असफलता देखता है और तथाकथित शिक्षितों की अहमन्यता और एकांगी आचरण से अक्सर असंतुष्ट रहता है ।

इस विचार के पीछे कुछ बातें रहीं हैं जिन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है :

1. ज्ञान को भारतीय जनसाधारण ऊंचा स्थान देता रहा है । इसके लिए सम्प्रदायों के बीच के संघर्ष देखे जा सकते हैं, जहां कोई संप्रदाय विशेष अपने धर्म में ज्ञान का उच्च स्तर साबित करने का प्रयास करता है । यहां धर्म की तरह ज्ञान को भी मुक्ति के साधन के रूप में देखा गया है । हालांकि ज्ञान की कई सरणियॉ अंतत: पुन: धर्म के रहस्यालोक में खो जाती रही हैं ।
2. व्यक्ति का चरित्र और उसका आचरण ही उसके शिक्षित होने का सबसे बड़ा साक्ष्य माना गया है। इस संदर्भ में विभाजित व्यक्तित्व सदैव गरिमा रहित और संशय से देखे गये हैं । व्यक्ति के आचरण का मापदण्ड सत्य और न्याय के प्रति उसका व्यवहार और रवैय्या रहा है ।
3. सूचना की तुलना में अनुभव को वरीयता दी गयी है । सूचना अपनी प्रामाणिकता अनुभव अथवा व्यवहार से पाती रही है । सूचना और अनुभव का संगत संयोग 'विद्या' का रूप लेता रहा है ।
4. विज्ञान और तकनीक की संगति सामाजिक सापेक्षता और नैतिक पहलुओं से आंकी जाती रही है। बेशक, इसके पीछे पाप और पुण्य की अवधारणाएं भी काम करती रही हैं ।
5. लोक-ज्ञान शिक्षा से पृथक नहीं माना गया । इसकी व्यवहारिकता इसे 'विद्या' (कौशल) और तार्किकता 'ज्ञान' का दर्जा दिलाती रही है ।
6. संस्कृति के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों को भी महत्त्वपूर्ण दर्जा प्राप्त रहा है । शिक्षा और संस्कृति के संबंध बहुत प्रगाढ़ रहे हैं । ऐसा लगता है कि शिक्षा का हर पक्ष 'संस्कृति' में मान्य था लेकिन संस्कृति का हर पक्ष 'शिक्षा' हो- यह जरुरी नहीं था ।

7. शिक्षा को सदैव सर्वोच्च, गरिमापूर्ण और गंभीर हैसियत मिलती रही, उसे कभी भी द्वितीयक या मनोरंजक वस्तु नहीं माना गया ।
8. प्राचीनकाल में शिक्षा पर एक समय में ब्राह्मणवादी वर्चस्व के बावजूद इसके बहुत लाभ के उपक्रम के रूप में बदलने के प्रमाण नहीं मिलते । ब्राह्मण वर्ग के शिक्षा से आजीविका के अतिरिक्त धनोपार्जन को समाज वैधता नहीं देता ।
9. शिक्षा की प्रकृति इतनी भिन्न है कि इस उपक्रम से संबद्ध पेशेवर लोगों अर्थात शिक्षकों से भी भिन्न अपेक्षाएं रखी गयी हैं । 'गुरु' - विषयक धारणाएं इसका प्रमाण हैं ।
10. ऐसी ही अपेक्षाएं लगभग ज्ञान के भिन्न अनुशासनों में सक्रिय विशेषज्ञों, जैसे-वैद्य, पशुचिकित्सक, मौसम विज्ञानियों, औषधि, जादू और बीजों के बारे में जानकारी रखने वालों से रही है हालांकि उन्हें समाज में मानद हैसियत हासिल रही है ।
11. शिक्षा के प्रवाहमान और जीवित स्वरूप को एक प्रक्रिया के रूप में मान्यता ज्यादा रही है । 'आंखिन देखी' (अनुभव-आधारित) और 'कागद-लेखी' ('लिखित ही प्रमाण') विद्याओं के मध्य द्वन्द्व और सहयोजन की प्रक्रिया भी चलती रही है । शिक्षा में अन्तर्निहित शक्ति और संभावनाओं को देखते इस पर एकाधिकार करने और वर्चस्व स्थापना में इसे इस्तेमाल करने की प्रवृत्तियों का जनसाधारण ने सदैव प्रतिकार किया है । शिक्षा से स्वतंत्रता और मुक्ति की अवधारणाएं भी गहरे संबद्ध रही हैं ।

इस विचार के साथ निम्न सवाल उभरते हैं :

1. ऐसे कौन-से कारण रहे हैं कि प्राचीन समय में शिक्षा, ज्ञान और विद्या (अथवा तालीम, इल्म या हुनर) की शीर्ष स्तर पर जो शास्त्रीय अवधारणाएं थीं, वे तात्विक रूप से लगभग उसी रूप में समाज के बीच भी प्रचलित रही हैं । जबकि शिक्षा का प्रत्यक्षत: प्रसार अत्यंत सीमित था । क्या यह श्रुति-स्मृति की परंपरा के माध्यम से ही जीवित रहा ?
2. ऐसा क्यों रहा कि शिक्षा के आधुनिक स्वरूप को तथाकथित आधुनिक समाज ने तो अपना लिया लेकिन शास्त्रीय विचारणा से दीर्घकालीन अलगाव के बावजूद जन-सामान्य शिक्षा की मूल भारतीय अवधारणा से आज तक जुड़ा हुआ है ।
3. कथित आधुनिक समाज, विशेषकर मध्यवर्ग ने शिक्षा के आधुनिक स्वरूप को भी आधा-अधूरा अपनाया है । उसके आचरण में द्वैत है तथापि वह इसका प्रबल प्रवक्ता है । ऐसा क्यों है ? क्या इसलिए कि इससे वह लाभान्वित हो रहा है अर्थात इससे उसके हित सध रहे हैं ?
4. भारतीय समाज आधुनिक शिक्षा को सामान्यत: यथा संभव नकारता है, और दबाव और प्रलोभन की स्थिति में ही वह इसे स्वीकार किए हुए है । लेकिन यह 'स्वीकार' बहुत अस्थिर और अनिच्छापूर्ण है क्योंकि वास्तव में उस के लिए शिक्षा का जो आदर्श है, उसमें सोच और आचरण के स्तर पर द्वैत के लिए कोई गुंजाइश नहीं है । दूसरी ओर प्राचीन शिक्षा की मूल अवधारणा से जुड़े रहने की समाज में भरसक कोशिश परिलक्षित हो सकती है । यह देखने की जरूरत है ।
5. यह भी देखना महत्वपूर्ण होगा कि शिक्षा की प्राचीन अवधारणा व्यापकता और अर्थ - संवर्धन की प्रक्रिया क्या 'लोक से शास्त्र की ओर' रही है अथवा 'शास्त्र से लोक की ओर' । शिक्षा से जुड़ी नीति और सौंदर्य-विषयक मान्यताओं के सतत् अक्षुण्य बने रहने के स्रोत कहां हैं ?
6. ऐसा लगता है कि तमाम नवाचारों के बावजूद आधुनिक शिक्षा के यथावत् विस्तार के अलावा उसके अर्थ-विस्तार के प्रयास बहुत निर्णायक प्रभाव डालते प्रतीत नहीं होते । आखिर आधुनिक शिक्षित वर्ग शिक्षा की व्यापक (नवीकृत) अवधारणा को व्यवहार के स्तर पर अपनाने से कतराता क्यों है?

अंत में, कहना यही है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में जहां एक ही प्रकार की शिक्षा से विश्व-समाज को कुछ वर्चस्वशाली शक्तियां अनुकूलित करना चाहती हैं, क्या हमें भारतीय शिक्षा की देशज अवधारणा पर चिंतन नहीं करना चाहिए, जो हमारी जमीन के हवा-पानी में फल-फूल सके, हमारे व्यापक समाज की इच्छा-आकांक्षाओं के अनुरूप हो और हमारी सांस्कृतिक विशिष्टताओं को संरक्षित और सम्बद्धित करती हो । बेशक, यदि शिक्षा की ऐसी कोई भारतीय अवधारणा आज विकसित होकर सामने आती है तो यह पुरातनोन्मुखी नहीं होगी बल्कि वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भविष्योन्मुखी होगी ।

●

प्रकाशन अंतराल का कारण

पत्रिका का यह अंक आप तक एक लंबे अंतराल के बाद पहुंच रहा है तथा कुछ परिवर्तन भी आप इसमें देख रहे होंगे । इसकी कैफियत हम आपको बयान करना चाहेंगे ।

जैसाकि आपको विदित है, 'विमर्श' का प्रकाशन पिछले वर्ष मार्च से हमने प्रायोगिक तौर पर शुरु किया गया था । शैक्षिक चिंतन और संवाद की पत्रिका के रूप में प्रवेशांक में हमने इसकी संकल्पना और स्वरूप को लेकर चर्चा की थी ।

हमें खुशी है कि 'विमर्श' का शिक्षा-जगत में व्यापक स्तर पर स्वागत हुआ और शैक्षणिक संस्थाओं, शिक्षाविदों और शिक्षकों सहित आम पाठकों ने 'विमर्श' से सक्रिय सम्बद्धता कायम की । पत्रिका के प्रायोगिक आठ अंक हमारी मौजूदा राय का आधार हैं ।

तदनन्तर दिगन्तर ने निर्णय लिया कि पत्रिका की अब बाकायदा शुरुआत की जा सकती है । इसके लिए आवश्यक वैधानिक कार्यवाही ने काफी वक्त लिया। भारत सरकार के रजिस्ट्रार आफ न्यूजपेपर्स ने हमें पत्रिका के लिए 'शिक्षा-विमर्श' शीर्षक आवंटित कर दिया है । अब से पत्रिका का प्रकाशन इसी शीर्षक से होगा । आपके सक्रिय सहयोग और संवाद की अपेक्षा रहेगी । ◆